Chapter-3

तृतीय अध्याय

भारतीय संगीत का विवर्तन एवं शास्त्रीय वाद्य-संगीत का व्हायोलिन वाद्य पर सर्वप्रथम क्रियात्मक प्रयोग तथा विकास ।

1. भारतीय संगीत का विवर्तन

भूमिका

भारतीय संगीत का इतिहास समृद्धिशील है । वह आज भी विभिन्न जिज्ञासुओं की रूचि एवं प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है । भारतीय संगीत अपनी संस्कृति का गौरव है, जो वैज्ञानिक शास्त्रों पर आधारित है, इसके प्रायोगिक लक्ष्य तथा लक्षण के पीछे एक गौरवपूर्ण इतिहास है । अतः किसी भी वाद्य पर इस संगीत का प्रयोग तथा विकास की चर्चा के पहले यह आवश्यक हो जाता है कि, उसके इतिहास पर भी दृष्टि डाली जाए । इस आवश्यकता को सोचते हुए यहाँ भारतीय संगीत के इतिहास पर संक्षिप्त विचार-विमर्श का प्रयास किया गया है ।

मुगल काल से पहले समस्त भारत में एक ही प्रकार का संगीत प्रचलित था । अर्थात उत्तर-दक्षिण भारतीय संगीत इस प्रकार का कोई भेद नहीं था । भारतीय संगीत के इतिहास का विवेचन यहाँ इसलिए किया गया है कि, इसमे हमें ज्ञान होता है कि संगीत किस प्रकार कालक्रम के अनुसार परिवर्तित होता हुआ आज की अवस्था तक पहुँचा है एवं भारतीय सभी संगीत वाद्य के समान व्हायोलिन नामक विदेशी वाद्य में भी इस संगीत का उपयुक्त प्रयोग हुआ है और आज भी बड़ी सफलता के साथ हो रहा है । इतिहास के विषय पर 'जोन हील' का कहना यह है कि, "इतिहास हमे एक ऐसी दुनियाँ में ले जाता है जहाँ हमे खोई हुई ज़िन्दगी प्राप्त होती है, जहाँ हमे विकास की मंज़िल की ओर अग्रसर होने के लिए नवीन आधार मिलते है"।[1]

भारतीय संगीत के इतिहास एवं विभिन्न कालों में लिखे गए ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा हमे संगीत सम्बन्धी जानकारी मिलती है । इसके अतिरिक्त समय-समय पर संगीताचार्यों एवं विभिन्न विचारकों द्वारा जो विचार प्रकट किए गए है, उसका अध्ययन एक नई अर्न्तदृष्टि प्रदान करता है । इतिहास के अध्ययन ने विभिन्न तथ्यों को उजागर करके संगीत-जगत की विभिन्न भ्रान्तियों का निराकरण करके सत्य को प्रकाशित किया है ।

संगीत का इतिहास केवल विभिन्न रचनाकारों की उपलब्धि ही नहीं है बल्कि विभिन्न वाद्यों का तथा गायन शैलियों का विकास भी उसी के अन्तर्गत आता है ।

भारतीय संगीत का स्थान प्राचीनतम प्रणालियों में से अन्यतम है । इसमें उपलब्ध सामग्री न केवल प्राचीनता के कारण अमूल्य है अपितु इतिहास निर्माण के लिए भी उपादेय है । संगीत की अत्यन्त समृद्ध क्रियात्मक परम्मरा सूक्ष्म तथा पूर्ण सैद्धान्तिक रूप में प्राचीन काल से ही विकसित रही है । संगीत उतना ही अनादि एवं प्राचीन है जितनी कि मानव जाति । जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता गया, संगीत भी उसके अनुकूल विकास को प्राप्त करता रहा। प्रागैतिहासिक काल के संगीत को अनदेखा नहीं किया जा सकता क्योंकि उस सभ्यता का संगीत इतिहास क्रमागत समय के अध्ययन के लिए विशिष्ट सामग्री प्रदान करता है, जिनके आधार पर विभिन्न कालों का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है ।

"प्रागैतिहासिक काल में भी संगीत का प्रचलन रहा है । प्रागैतिहासिक मानव उस समय असंस्कृत तथा असभ्य था परन्तु उसे नृत्य तथा संगीत से प्रेम था, इस काल की कोई सूत्रवद्ध सामग्री उपलब्ध नहीं होती है । इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी ही विशाल प्रागैतिहासिक सभ्यता का निदर्शन सिन्धु तथा हरप्पा जैसे स्थानों में उपलब्ध है । मोहन-जो-दड़ो तथा हरप्पा में जो संगीत चिन्ह मिले है उसका सनातन सभ्यता से लेकर इतिहास की रचना तक सम्बन्ध है । चाहे भारतीय सभ्यता में बदलाव आया है लेकिन संगीत में एक-सूत्रता का आभास होता है" ।[2] यहाँ बताना उचित होगा कि, "सिन्धु-सभ्यता आर्य थी या अनार्य, वैदिक थी या अवैदिक इस विषय में विद्वानों में मतभेद है, किन्तु इस विषय में तो कोई विवाद हो ही नहीं सकता कि वह भारतीय थी। मोहन-जो-दड़ो की खुदाई में बाँसुरी, तन्त्रीयुक्त वीणा, चमड़े के कई प्रकार के वाद्य-यन्त्र, दो नर्तकियों की काँसे की मूर्तियाँ और एक नर्तक की पत्थर की भग्न मूर्ति इत्यादि संगीत सम्बन्धी सामग्री मिली है । इन सामग्रीयों से यह पता चलता है कि ईसा से 5000 वर्ष पूर्व भारतीय संगीत में पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी । वीणा और विभिन्न प्रकार के ताल-वाद्यों का भी निर्माण हो चुका था" ।[3] संगीत को यदि मनुष्य की मौलिक प्रवृत्ति कहा जाए तो अनुचित नहीं होगा । "प्राचीन काल से मानव अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के रूप में संगीत का प्रयोग करता आ रहा है । संगीत रचना में अभिव्यक्ति विचार एवं भाव केवल शब्दों के माध्यम से नहीं वरन् स्वरों के माध्यम से नादात्मक अभिव्यक्ति पाते है" ।[4]

"संस्कृति के उद्गम एवं विकास के साथ संगीत का उद्गम एवं विकास देखा जाता है । आदिम संगीत कलात्मक संगीत से दैनिक कार्यों के अधिक निकट था । आदिम मानव तभी गाता था जब वह कुछ अभिव्यक्त करना चाहता था । इस प्रकार गाना उसके स्वाभाविक विचारों का प्रतिफलन था" ।[5]

आदिमयुग

सभ्यता से पहले संगीत मनुष्य के मन में छुपा हुआ था । प्रकृति की प्रजा, जानवरों एवं पक्षियों की आवाज़ में संगीत का रूप सुनाई पड़ता था । मानव जाति जीवनभर अनुकरण प्रिय है । वह अपने सुख-दु:ख और शान्ति के लिए ईश्वर के पास अपनी मन की भावनाओं को प्रदान करता था । उसमें सुर का समावेश होता था । अनेक नहीं बल्कि दो या तीन स्वर ही उस आवेदन के लिए प्रयोग होते थे । पक्षी और जानवरों की आवाज़ों को वह शान्तिदायक एवं सुरीला समझता था इसलिए उन आवाज़ों को मनुष्य ने अनुकरण करने का प्रयास किया । वह अपनी भाषा तथा सुरों के प्रयोग से गाया करता था । "उनका संगीत अर्थहीन नहीं था । वे पार्थिव प्रयोजन के लिए ही गाते थे । सभ्यता की उन्नति के साथ-साथ संगीत में भी परिवर्तन होने लगा । भाव-सम्पदा से संगीत हुआ पूर्ण तथा अपार्थिव आदर्श को भी उसने ग्रहण किया" ।[6]

भारतीय संगीत भारत की शिल्प-संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है । "सभ्यता के क्रमिक विकास के साथ भारतीय संस्कृति जैसे-जैसे उन्नति के शिखर पर पहुँचने लगी साथ ही साथ संगीत का भी होने लगा विवर्तन तथा परिवर्तन" ।[7]

"आदिम युग में संगीत बहुत सरल था । मानव की अन्तर-आवेदन के साथ प्रार्थना के रूप में संगीत का प्रयोग होता था । स्तोत्र, गान तथा उदगान, गाथा आदि संगीत का रूप था । उस युग में ही मनुष्य ने समाज की सृष्टि करली थी । अत: संगीत भी उस समाज का वस्तु था, परन्तु उस संगीत में एक, दो या तीन स्वरों का ही प्रयोग होता था । हड्डि तथा सुषिर काष्ठ-वाद्य एवं पशुओं के चमड़े से बने वाद्यों का प्रयोग उस युग से ही होने लगा। नृत्य भी आदिम समाज का एक अंग था । सभ्यता की क्रमिक उन्नति के साथ-साथ शिल्प तथा संगीत दिव्यमहिमा से उज्ज्वल होने लगा । देवताओं का रूप हुआ कल्पित तथा उनकी महिमाओं के प्रति श्रद्धा व्यक्त की मनुष्य कल्पित जाति ने । यज्ञ था पूजा का मुख्य अंग तथा

उसमें आहुति दान ही पूजा का रूप था । आहुति के साथ गायन तथा गाथा प्रस्तुत किया जाता था । यज्ञों में संगीत का उपयोग मुख्य रूप से किया जाता था । संगीत के साथ विभिन्न प्रकार के वाद्यों तथा नृत्य का उपयोग होता था । इस प्रकार से मानव जाति ने तैयार किया 'साम गान' का महिमामय रूप" ।[8]

वैदिक युग

वैदिक सभ्यता और संस्कृति को लेकर वैदिक युग की रचना हुई थी । वैदिक युग भारत के सांस्कृतिक इतिहास में प्राचीनतम युग माना जाता है । भारत में सांस्कृतिक उपलब्धिओं का सर्वप्रथम स्वरूप इसी युग के साहित्य में उपलब्ध होता है । वैदिक युग से अभिप्राय उस सुदीर्घ कालखण्ड से है, जिसमें चार वेदों तथा उसके विविध अंगों का विस्तार हुआ है । ये चार वेद है : 1. ऋग्वेद 2. सामवेद 3. यजुर्वेद 4. अथर्ववेद । इसके अतिरिक्त उपनिषदों तथा शिक्षा-ग्रन्थों में तत्कालीन संगीत साधना के अनेक उल्लेख प्राप्त होते है ।

सामवेद को भारतीय संगीत का स्रोत माना गया है, परन्तु उसमें अनेक मतभेद हैं । क्योंकि वैदिक सभ्यता से पहले भी भारत में सभ्यता थी एवं अनार्य, द्रविड़ आदि जातियों की भाषा तथा संगीत का भी प्रचलन था । भारत में प्राचीन सभ्यता तो रही, किन्तु वैदिक तथा सामवेद के युग में ही भारतीय संगीत का एक सुस्पष्ट रूप देखा गया है । सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में स्थान-स्थान पर गीत, वाद्य तथा नृत्य का उल्लेख पाया जाता है । इससे यह स्पष्ट होता है कि इन तीनों कलाओं का वैदिककाल में अभिन्न साहचर्य था । अतः वैदिक कालीन प्राप्त साहित्य और अन्य संकेत चिन्ह के आधार पर स्पष्ट होता है कि आज जो संगीत प्रचार में है, उसका केवल स्वरूप परिवर्तित हुआ है उसका मूल रूप आज भी वैदिक युगीन संगीत में विद्यमान है । इस प्रकार देखा जाता है कि वैदिक युग में संगीत जीवन का अभिन्न अंग था । इसका प्रचार समाज के सभी वर्गों में प्रचुर मात्रा में दिखाई पड़ता है । मुख्य रूप से संगीत का प्रयोग धार्मिक क्षेत्र में दिखाई देता है, परन्तु लौकिक क्षेत्र में भी इसी काल से संगीत का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था, पर उसका आध्यात्मिक महत्त्व ही अधिक था । "वैदिक युग में यज्ञों के समय गायन का विधान था । यज्ञ के बाहर भी गायन का नियम था । यही गायन 'साम-गान' कहा गया" ।[9]

"'साम' शब्द का अर्थ है सुर अथवा माधुर्यपूर्ण स्वर । ऋग्वेद के मन्त्रों में सुर संयोजन से ही 'साम-गान' का विकास हुआ था"।[10] "साम-गान करनेवाले ऋत्विक, सामग, या छन्दोग कहलाते थे । 'सामविधान ब्राह्मण' के अनुसार साम-गान में पाँच, छः एवं धीरे-धीरे सात स्वर प्रयुक्त होने लगे थे"।[11] "विभिन्न वेदों की अनेक शाखाएँ है । प्रत्येक शाखाओं में साम-गान का नियम बताया गया, पर अलग-अलग उपायों से यह नियम उपलब्ध है । भिन्न-भिन्न शाखाओं के सामगगण अलग-अलग स्वरों से विभिन्न साम-गान का गायन करते थे । उनके गायन की तुलना स्वरों के संख्यागत प्रयोग से की जाती थी । क्योंकि कोई पाँच, कोई छः तथा कोई सात स्वरों के प्रयोग से साम-गान प्रस्तुत करता था"।[12] साम-गानों का भेद 'ग्रामगेय', 'अरण्यगेय', 'उह्य' तथा 'उह' आदि भेदों से किया गया है । इन भेदों से सामवेद की गाथा, गान तथा संगीत की रचना हुई । उनमें ग्रामगेय मुख्य है । उह्य तथा उह की सृष्टि ग्रामगेय से ही हुई । वैदिक परवर्ती युग में यही ग्रामगेय से गान्धर्व तथा मार्ग एवं मार्ग से क्रमशः अभिजात देशी संगीत की सृष्टि मानी गई है ।

साम-संगीत से ही भारतीय संगीत का विकास कहा जाता है एवं 'गान्धर्व वेद' को सामवेद का ही उपवेद माना गया है । भारतीय संगीत के विकास में वैदिक सामगान को प्रथम युग माना जाए, तो गान्धर्व उपवेद को विकास का द्वितीय युग कहना चाहिए ।

गान्धर्व संगीत का युग

वैदिक परवर्ती युग में गान्धर्व संगीत का व्यापक प्रचलन तथा विकास हुआ था । इतिहास के पन्नों से जानकारी मिलती है कि, " 'गन्धर्व' एक जाति विशेष थी तथा उनके मुख्य निवास स्थान को गान्धारदेश कहा जाता था"।[13] यह गान्धार देश वैदिक युग में ही संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति का व्यापक क्षेत्र बन गया था । गन्धर्वगण संगीत-विद्या में निपुण होते थे । उनके प्रिय संगीत को नाट्यशास्त्र में 'गान्धर्व गान' कहा गया है । "इन गन्धर्वों के द्वारा सृष्ट त्रोर्यत्रिक विद्या को ही 'गान्धर्व' तथा वैदिक परवर्ती 'मार्ग संगीत' कहा गया है"।[14] संगीताचार्य स्वामी प्रज्ञानानन्द जी ने अपने ग्रन्थ 'संगीत ओ संस्कृति' में बताया है कि, "सामगान परवर्ती परन्तु सामगान की गुण तथा प्रकृति ही गान्धर्व संगीत का मुख्य अंग है"। "इस बात की बहुत संभावना है कि अफगानिस्तान के पर्वतीय प्रदेशों में निवास करनेवाले

छोटे-छोटे पूगा, व्रात, संघ और श्रेणी नामक कबीलों में शिव-सम्बन्धी जो संगीत की परम्परा थी, उसने शास्त्रीय मार्गीय संगीत या गान्धर्व-संगीत की परम्परा को जन्म दिया"।[15] "भरत ने नाट्यशास्त्र के 28वें अध्याय में बताया है कि वीणा आदि वाद्ययन्त्रों की सहायता से स्वर, ताल तथा पदयुक्त संगीत का नाम गान्धर्व है"।[16] इसकी दो विशेषताएँ प्रधान थी - एक तो संगीत में ' सा रे ग म प ध नि ' इस सप्तक का व्यवस्थित प्रयोग होने लगा था । दूसरे - जैसा कि काव्यों के क्षेत्र में हुआ था, वैसा ही कुछ परिवर्तन यहाँ भी हुआ, अर्थात मार्गी संगीत के गानों कि भाषा संस्कृत थी, जिसका परिष्कार पाणिनि ने किया था । यह भी कहा जाता है कि इस युग के संगीत में शिव की स्तुति और उनका वर्णन प्रधान विषय था। शारंगदेव अपने ग्रन्थ 'संगीत रत्नाकर' कि प्रबन्ध अध्याय में गान्धर्व संगीत का वर्णन इस प्रकार किया है कि गान्धर्व संगीत दो श्रेणी के हैं । जैसे - मार्ग एवं देशी । उन्होंने कहा है कि अनादि काल गन्धर्वगण ने गुरू-शिष्य परम्परा से संगीत चर्चा तथा प्रचार किया है । उन्होंने गान्धर्व संगीत को कल्याणदायक बताया है । वस्तुतः प्राचीन गान्धर्व संगीत ही परवर्ती युग में विवर्तित होकर देशी संगीत नाम से प्रचलित हुआ । अतः देशी संगीत ग्राम्य या लोक-संगीत नहीं है । वह शास्त्रीय संगीत का ही अन्तर्गत है । इस देशी संगीत का सृष्टि तथा विकास शास्त्रीय संगीत के आधार पर ही हुआ था ।

'मार्ग-संगीत' वैदिक संगीत के उपादानों से रचित हुआ था । 'मार्ग' शब्द का अर्थ है अन्वेषण । वैदिक सामगान जैसा मार्ग शब्द भी मंगलदायक था अर्थात जो संगीत आध्यात्मिक उन्नति करता है तथा जो पवित्र वही मार्ग-संगीत कहा जाता था । शारंगदेव के मतानुसार, मार्गित या अन्वेषित अर्थात चार वेद से संगृहीत संगीत ही मार्गः है ।

गान्धर्व या मार्ग-संगीत के युग में अनेक प्रकार के गानों का विकास हुआ था, जिनके कुछ नाम 'नाट्य शास्त्र' में मिलते है । इनमें सात नाम को 'सप्तरूप' या 'सप्तांग' कहते हुए सामवेद से विकसित माना गया है । वैदिक साम-संगीत से विकसित हुए कुछ गीतिरूप लोक में प्रचलित थे ।

रामायण तथा महाभारत काल

'रामायण' तथा 'महाभारत' भारत के दो प्राचीन महाकाव्य है । इन काव्यों की रचना काल को महाकाव्य का युग कहा जा सकता है । इनमें रामायण प्राचीनतम है । रामायण व महाभारत संगीतशास्त्र के अन्तर्भुक्त ग्रन्थ नहीं है; परन्तु इन ग्रन्थो के सभी अध्यायों में नृत्य, गीत तथा वाद्य का परिचय मिलता है ।

रामायण तथा महाभारत काल में संगीत सम्बन्धी प्राप्त उल्लेखों के आधार पर निष्कर्ष प्राप्त होता है कि, इन युगों में संगीत-कला का अत्यधिक प्रचार था, तथा वैदिक साम-गायन पद्धति और लौकिक संगीत-कला का समान रूप से प्रचलन था । लौकिक संगीत प्रायः 'गान्धर्व' नाम से व्यवहृत होता था । रामायण काल में विभिन्न पुण्यतिथियों में साम-गान का प्रयोग होता था, परन्तु गान्धर्व गान ही ज्यादा प्रचार में था । इस युग में गान्धर्व नाम से जाति-राग एवं ग्राम-राग का प्रचलन था । जाति-राग तथा ग्राम-राग सात लौकिक स्वर, मूर्च्छना, मन्द्रादि तीन स्थान, लय एवं विभिन्न रसों के प्रयोग से गाया जाता था । रामायण काल में संगीत में सुरों का माधुर्य तथा वाणी का महत्त्व ज्यादा रहता था । अनेक प्रकार की वीणाओं का प्रयोग होता था, परन्तु वैदिक युग की अनेक प्रकार की वीणा इस युग में विलुप्त हो चुकी हैं तथा वीणाओं का अनेक विवर्तित रूप सामने आया।

रामायण काल से महाभारत काल के संगीत में स्वल्प परिवर्तन आया था । महाभारत के समाज में भी गान्धर्व संगीत का प्रचलन था । गान्धर्व 'मार्ग' नाम से प्रचलित था । 'मार्ग' शब्द वैदिक साम-गान जैसा ही मंगलदायक है । महाभारत रचयिता वेदव्यास ने गीत को गान्धर्व कहा है, परन्तु ज्यादातर उन्होंने गीत शब्द का प्रयोग किया है । इस युग में भी साम-गान का प्रचलन था, परन्तु यह साम-गान वैदिक साम-गान से भिन्न था । किन्तु वैदिक युग के साम-गान का अनुसरण करके ही इस गीतशैली की सृष्टि हुई । इस युग में साम, स्तुति, स्तोत्र तथा गाथा आदि गीतशैली का काफी प्रचलन था । महाभारत काल में मंगल-गीति का भी उल्लेख मिलता है । मंगल-गीति का साधारण अर्थ है कल्याणदायक गीत । रामायण-महाभारत काल में संभवतया इस अर्थ को समझते हुए ही मंगल-गीत का गायन होता था । गायन के साथ अनेक प्रकार के वाद्य तथा वीणा का भी उल्लेख प्राप्त होता

है । महाभारत काल में गायक, नर्तक, वादक, अप्सराओं का नृत्य-गीत, गाथा-गान, शंख, वीणा, वेणु, मृदंग, स्मृति, स्तोत्र, ताल, लय, मुर्च्छना आदि का उल्लेख मिलता है ।

"इन युगों में संगीत-कला को जीवन का अवलम्ब बनाने के लिए कलाकारों को राज्य की ओर से आश्रय प्राप्त होता था । संगीत शिक्षा उस काल में भी गुरू-शिष्य परम्परा द्वारा दी जाती थी इसके अनेक उल्लेख प्राप्त होते है" ।[17]

बौद्ध तथा जैन काल

रामायण-महाभारत कालों के बाद बौद्ध तथा जैन काल में भी संगीत सम्बन्धी अनेक उल्लेख प्राप्त होते है । डेढ़ या दो हजार वर्ष तक वैदिक संस्कृति और धर्म का बोल-बाला रहा और ब्राह्मणों ने तत्कालीन भारतीय समाज को जाति-पाँति के तथा कर्मकाण्डों के कड़े बन्धनों में बाँधने का प्रयास किया जिससे साधारण जनता त्रसित हो गई । इसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मणों, यक्षों तथा वर्णाश्रम-धर्म का विरोध होने लगा । इस समय गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी ने वैदिक दोषों को दूर कर जनता की समझ में आनेवाली सरल धर्म प्रणाली का प्रतिपादन किया और यही धर्म प्रणालियाँ जैन और बौद्ध धर्म के रूप में प्रचारित हुई। उसके बाद बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार मौर्य वंश के महानुभव सम्राट अशोक के समय हुआ था । मौर्य काल की सामाजिक क्रियाकर्म तथा अनुष्ठानों में नृत्य, गीत तथा वाद्य का व्यवहार था । साम-गान का उतना महत्त्व इस काल में नहीं दिखाई पड़ता है । "इस काल में आध्यात्मिक गीतों का संकलन बौद्ध भिक्षुकों और भिक्षुणियों के द्वारा रचित ग्रन्थों में प्राप्त होता है" ।[18] "इसी प्रकार जैन काल में जैन आगमों का प्रचार करने के लिए 'चलित' नामक गीतों का प्रचार किया गया" ।[19]

इस प्रकार हम देखते है कि भारत मे धर्म प्रचार का कार्य संगीत-कला के द्वारा किया गया । इससे प्रतीत होता है कि संगीत में ऐसी शक्ति है जो जनसामान्य में किसी भी सिद्धान्त, मान्यता, विश्वास को आसानी से प्रतिस्थापित कर सकती है । "आध्यात्मिक संगीत के साथ-साथ इन दोनों ही कालों में उत्सवों पर लोक मनोरंजन के लिए स्थान-स्थान पर गीत, वाद्य तथा नृत्य की संगति के उल्लेख प्राप्त होते है । इसके अतिरिक्त सभी वाद्यों के अनेक

प्रकार दृष्टिगोचर होते है" ।[20] बौद्ध जातकों में तथा जैनियों के ग्रन्थ 'ठणांग सुत' में संगीत का प्राचीन इतिहास एवं सामग्री का विवरण पाया जाता है ।

दोनों ही कालों में संगीत-कला को राजाश्रय प्राप्त था । कला-निपुण व्यक्तियों को राज्य सभा में उचित वेतन पर नियुक्त किया जाता था । तत्कालीन सुसंस्कृत परिवारों में संगीत का अध्ययन होता था । राजघरानों के सदस्यों का संगीत-कला में प्रवीण होना आवश्यक था । विभिन्न उत्सवों के अवसर पर नागरिक तथा ग्रामीण जनता में गीत-वाद्यों-नृत्यादि कार्यक्रमों का आयोजन खुब होता था । अत: इससे स्पष्ट होता है कि इस काल में संगीत कुछ-कुछ विलासिता की ओर बढ़ने लगा था । "इन कालों में संगीत-कला शिक्षा की पर्याप्त तथा समुचित व्यवस्था थी" ।[21]

भरत काल

"संगीत के इतिहास में ईसा के पश्चात् द्वितीय शताब्दी एक आलोक स्तम्भ है । इस शताब्दी में रचित 'नाट्यशास्त्र' में हमें संगीत विषयक ठोस सिद्धान्त प्राप्त होते हैं" ।[22] 'नाटयशास्त्र' के रचयिता भरतमुनि हैं । नाट्यशास्त्र अपने कुल 38 अध्यायों में से 28 से 33 इन छ: अध्यायों में विशुद्ध संगीत सम्बन्धी सामग्री प्रदान करता है । ये सामग्री प्राचीन तथा प्रामाणिक भी है । महत्त्व की बात यह है कि भारत की प्राचीन संगीत-कला तथा उसके सिद्धांतों पर प्रकाश डालने वाला यही एकमात्र ग्रन्थ है तथा इसी के द्वारा बतायी परम्परा का परिपालन समस्त भारत वर्ष में आज भी किया जाता है । भरतकालीन इन्हीं सिद्धान्तों को आज भी हम संगीत-क्षेत्र में प्रचार में देखते हैं, यद्यपि उनमें कालक्रम के अनुसार काफी परिवर्तन हुया है । फिर भी यदि उन्हें इमारत की नींव कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी ।

भरत काल में संगीत चरमोत्कर्ष पर था । संगीत में शास्त्रीय सैद्धान्तिक विकास के विषय में यह काल सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था । इस काल में शिक्षालयों के माध्यम से संगीत-शिक्षा प्रदान की जाने लगी थी । अत: संगीत का व्यवहारिक विकास भी इस युग में अधिक हुआ । शास्त्रीय संगीत कहीं भी हेय नहीं माना गया । वेश्या वर्ग द्वारा शास्त्रीय रीति से प्रदर्शित संगीत को हेय न मानकर उसे भी समाज में उच्च स्थान दिया गया था । इस काल के

उत्सवों के सम्मिलित प्रयासों को देखते हुए यह निष्कर्ष उचित प्रतीत होता है कि संगीत किसी न किसी रूप में समाज के सभी वर्गों में प्रचारित हो चुका था ।

इस युग में संगीत ने जो शास्त्रीय रूप लिया उसका उल्लेख भरत ने अपने ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' में स्पष्ट रूप से किया हैं । इसी प्रसंग में नाटक के साथ संगीत का सम्बन्ध बताते हुए ध्रुवा नामक गीति-विशेष का भी उल्लेख मिलता है । यह ध्रुवा गीत गान्धर्व संगीत के ही अर्न्तगत था। ध्रुवा गीतियाँ प्रायः प्राकृत भाषा में होती थी, जिससे अनुमान होता है कि उनके द्वारा शास्त्रीय संगीत लोक-संगीत के सान्निध्य में आया । संस्कृत की ध्रुवा गीतियाँ बाद में रची गई । ध्रुवा गीतियों का गान प्रायः वृन्द-संगीत के साथ होता था । इसके पश्चात् अनेक वंशों का शासन भारत की राजगद्दी पर हुआ । इनमें मौर्यवंश, शुंगवंश, कनिष्कवंश, नागवंश, गुप्तवंश, हर्षवर्धनेकाल प्रमुख है । इन सभी वंशों में समय-समय पर अनेक उत्तराधिकारी राजगद्दी पर विराजमान हुए और सभी ने राज्य के विभिन्न अंगों के विकास के साथ संगीत के विकास पर भी पर्याप्त ध्यान दिया, परन्तु इन वंशों के शासनकाल में गुप्तवंश का शासनकाल हर दृष्टि से भारतीय संस्कृति के विकास का स्वर्णयुग माना गया है । "इस अवधि में यह वंश सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण शासन सत्ता हुई है, इस वंश ने चौथी से छठी शताब्दी तक शासन किया" ।[23]

गुप्त काल

गुप्त काल को प्राचीन भारत का शास्त्रीय युग माना जाता है । इस युग में भारत के अन्दर चतुर्मुखी विकास हुआ था । गुप्तकालीन संगीत के दृश्य-चित्र अजन्ता के भित्ति-चित्रों में उपलब्ध होते हैं । इसके अतिरिक्त इस काल के संगीत का उल्लेख मतंगकृत संगीत ग्रन्थ 'बृहद्देशी' में विस्तृत रूप से पाया जाता है, जो इस काल का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । इस काल में रचित कालीदास, भास एवं शुद्रक के नाटकों में भी उस काल के संगीत के सम्बन्ध में उल्लेख प्राप्त होते है ।

राग-गान का विकास

गुप्त युग के साथ जब भारतीय संस्कृति ने नया पलटा खाया, तो अन्य शास्त्रों के समान यहाँ के संगीत में भी नया विस्तार और परिशोधन हुआ । लगभग इसी समय एक नई प्रवृत्ति संगीत के क्षेत्र में मान्य हुई, उसे राग-रागिनियोंवाला संगीत कहा जाता है। देश्य भाषाओं में और स्थानीय प्राकृत भाषाओं के द्वारा जो जन-सम्पर्क मौर्योत्तर काल में स्थापित हुआ था, उससे नाट्य और नृत्य को जैसे प्रोत्साहन मिला, वैसे ही मार्गी संगीत से भाँति-भाँति के स्थानीय गीतों या तानों को भी बढ़ावा मिला । "भरत के युग में राग-रागिनियों का जन्म नहीं हुआ था । उस समय स्वर-सप्तकों या जातियों के आधार पर गीतियों का निर्माण किया जाता था । 'नारदीय शिक्षा' में रागों का स्वल्प आरम्भिक उल्लेख है, किन्तु मतंग के 'बृहद्देशी' ग्रन्थ में उनका विस्तार है और उन्होंने स्पष्ट कहा है कि भरत ने जिस राग-मार्ग का उपदेश नहीं किया था, वे उसकी व्याख्या कर रहे हैं" ।[24] "पहले के मार्गी संगीत की अपेक्षा इस नए संगीत को 'देशी' कहा गया जिस प्रकार भाषा के क्षेत्र में अपभ्रंश का आन्दोलन था वैसे ही संगीत के क्षेत्र में देशी रागों की ओर लोगों की रूचि बहुत बढ़ रही थी" ।[25] "साम-गान का प्रथम युग, गान्धर्व या मार्ग-संगीत का दूसरा युग और लगभग गुप्त काल से देशी राग-गान का तीसरा युग भारतीय संगीत के इतिहास में आरम्भ हुआ था" ।[26] "मतंग ने अपने 'बृहद्देशी' में जिन अनेक रागों के नाम दिए है । जैसे - गौड़, टक्क राग, सौवीर राग, मालवपंचम, हिन्दोलक (वर्तमान हिन्दोल राग), टक्ककौशिक, मालवकौशिक (वर्तमान मालकौश राग) इत्यादि । वे भारतीय रागों के इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है" ।[27]

युग परिवर्तन के साथ-साथ भारतीय संगीत के भी परिवर्तन होता रहा और विभिन्न युगों में अनेक शास्त्रकार भी हुए, जिन्होंने अपना-अपना योगदान देकर संगीत-साहित्य को आगे ही आगे बढ़ाया । इस समस्त साहित्य में सबसे अधिक सामग्री का भण्डार और प्रामाणिक ग्रन्थ शारंगदेव कृत 'संगीत-रत्नाकर' है । ये देवगिरि के यादववंशीय सम्राट सोढ़ल (1210-1247 ई.) के अर्थकरण के अध्यक्ष थे ।

मध्ययुग

'संगीत रत्नाकर' के युग को हम विशुद्ध भारतीय संगीत-परम्परा की सीमारेखा मान सकते है । ऐतिहासिकगणो ने इस युग को मध्ययुग कहा हैं । मध्ययुग को हम मुसलमान काल समझते हैं । यद्यपि इस युग को 11वीं/12वीं शताब्दी से आँका गया है ।

मध्ययुग के आरम्भ में समग्र भारतवर्ष छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था । इन राज्यों में राजनैतिक ऐक्य तो दूर रहा वरन् उन्में आपस में सर्वदा ही झगड़े-विवाद लगे रहते थे । फलस्वरूप बाहर की शक्तियाँ भारतपर आक्रमण करने के लिए प्रेरित हुई थी, और परिणाम स्वरूप समग्र भारतवर्ष मुसलमानों के शासनाधीन हो गया । प्रारम्भ में मुसलमान बादशाहों में कोई-कोई बादशाह ही संगीत-कला में रूचि रखते थे और कला-विद्याओं को यथेष्ट प्रोत्साहन देते थे ।

उसके बाद इरानी संगीत के संमिश्रण से उत्तर भारत में नई परम्पराएँ उठ खड़ी हुईं और 'उत्तर' एवं 'दक्षिण' संगीत की ये दो धाराएँ अलग-अलग अपना विकास करने लगी ।

भौगोलिक सीमारेखा के विचार में उत्तर भारत, मध्य भारत और दक्षिण भारत इन तीन विभागों की अस्तित्व तो है, पर 14वीं शताब्दी तक 'उत्तर-दक्षिण' भारतीय संगीत इस प्रकार का कोई भेद नहीं था । नाट्यशास्त्र, दत्तिलम, बृहद्देशी, संगीत मकरन्द, संगीत समयसार, संगीत रत्नाकर आदि ग्रन्थों में बताई हुई एक अखण्ड संगीतधारा भारत में प्रचलित थी ।

मुगल काल

भारतीय संगीत मुगल काल से ही दो धाराओं में विभक्त हुआ है । एक धारा कर्नाटक अथवा दक्षिण भारतीय संगीत कहलाई और दूसरी उत्तर भारतीय अथवा हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति के रूप में सामने आई । दक्षिण भारतीय संगीत पद्धति पर हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति की अपेक्षा मुगल संस्कृति का प्रभाव कम पड़ा है ।

उत्तरी भारत की तुलना में दक्षिणी भारत में सदा ही संगीत-चर्चा अधिक रही है, और पूर्वी भारत (बंगाल) के विषय में यह कहा जाता हैं कि वहाँ श्री चैतन्य-पूर्व समाज में भी शुद्ध

राग-रागिनी के साथ संगीत का बहुत प्रचलन था क्योंकि गुप्त, सेन एवं पाल राज्यकाल की संगीत-चर्चा की समीक्षा अनेक विद्वानों ने की है । डाक्टर दिनेशचन्द्र सेन का 'वृहतबंग' (बांग्ला संस्करण) ग्रन्थ इस प्रसंग में विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

मुगल काल में विशेषत: सम्राट अकबर के समय से उत्तर भारतीय संगीत में क्रमानुसार विभिन्न शैलियों की सृष्टि तथा विकास होने लगा । संगीत की उन्नति विकास में सम्राट अकबर का भी अत्यधिक योगदान रहा, इस दृष्टि से अकबर के काल को उत्तर भारतीय संगीत का स्वर्णीम युग कहा जाता है । उसके बाद पूरे मुगल युग में ही अनेक राजाओं, शास्त्रकारों तथा कलाकारों के योगदान से हिन्दुस्तानी संगीत की विभिन्न शैलियों की सृष्टि तथा विकास होता रहा ।

यह अवश्य स्वीकार करने योग्य है कि पिछले आठसौ वर्षों में भारतीय संगीत ने राजकीय संरक्षकों और रियाज़ करनेवाले कलावन्तों की कृपा से बहुत उन्नति की । भारत के अनेक केन्द्रों के बड़े-बड़े संगीतज्ञ आचार्यों ने अनेक प्रकार से संगीत के विकास में योगदान दिया और भारतीय संगीत की ज्योति को बनाए रखा ।

आधुनिक युग

20वीं सदी में स्वनामधन्य पं. विष्णु दिगम्बर और श्री भातखण्डे जी ने राष्ट्रीय स्तर पर संगीत के पुनरूत्थान का कार्य किया और उसे राजसभाओं की छोटी सीमाओं से निकालकर राष्ट्रीय रंगमंच के विपुल धरातल पर प्रतिष्ठापित कर दिया । वर्तमान समय में संगीत-महाविद्यालय, संगीत-सम्मेलन, संगीत-नाटक अकादमी तथा वैज्ञानिक माध्यम आदि भारतीय संगीत के शास्त्रीय सिद्धान्त और गायन-वादन के प्रायोगिक रूपों के उत्थान के लिए जो प्रयत्न कर रहे है, उससे भारतीय संगीत के उज्ज्वल भविष्य की आशा होती है ।

भारतीय संगीत में शास्त्रीय वाद्य-संगीत का भी उतना ही महत्त्व है जितना कि कण्ठ-संगीत का वादन के बिना गायन कभी सम्पूर्ण नहीं होता है । गायन-वादन की यह परम्परा प्राचीन काल से ही चलती आ रही है । वैदिक साहित्य में गायक तथा वादकों के बैठने का नियम भी बताया गया है । संगीत विषयक इतिहास का श्रेय एकल कण्ठ-संगीत को नहीं

दिया जाता । गीत-वाद्य-नृत्य यह तीनों प्रकार को लेकर ही सांगीतिक इतिहास बनता है । अत: सांगीतिक उन्नति, विवर्तन तथा विकास को इन तीनों का ही उन्नति, विवर्तन तथा विकास समझा जाता है । यहाँ हम जिस वाद्य पर भारतीय शास्त्रीय संगीत का प्रयोग तथा विकास की चर्चा करेंगे वो मूलत: एक विदेशी वाद्य है । जिसे अंग्रेज़ी में 'Violin', हिन्दी में 'बेला' एवं बांग्ला में 'बेहाला' कहकर पुकारा जाता है ।

व्हायोलिन एक विदेशी वाद्य होते हुए भी आज वह भारत में संगीत की महफिलों के मध्य में विराजमान हुआ है, कर्नाटक और हिन्दुस्तानी दोनों संगीत शाखाओं की कलाकारों के योगदानों से दोनों ही शाखाओं में उसे स्वतन्त्र वादन और साथ-संगत के वाद्य के नाते उँचा स्थान मिला है । यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है कि मुगल युग के प्रारम्भ में युरोपीय देशों से विभिन्न जाति के लोग व्यापारिक उद्देश्य से भारत आने लगे । वे व्यापार करने के साथ-साथ भारत की राजनीति, धर्म, समाज-संस्कृति, संगीत सभी क्षेत्रों में भी शामिल होने लगे। फलस्वरूप युरोपीय-भारतीय संस्कृति का मिश्रण भी उस समय से ही शुरू हुआ था । इस मिश्रण को देखते हुए हम अवश्य कह सकते है कि युरोपीयों के भारत आगमन के साथ-साथ उनके व्यवहृत संगीत-वाद्यों का भी आगमन शुरू हुआ एवं भारतीय संगीत में थोड़ा-बहुत प्रयोग होने लगा । उनमें व्हायोलिन एक अधिक लोकप्रिय वाद्य हो गया, जिसका प्रयोग उस काल से लेकर आज तक भी बड़ी सफलता के साथ हो रहा है ।

GOA की 'BIG FOOT' में युरोपीय काल के जन-जीवन का जो चित्र बना हुआ है उसमें व्हायोलिन बजाती हुई एक पुरूष मूर्ति को देखकर यह स्पष्ट होता है कि उस काल में भारत के युरोपीय जन-जीवन में इस वाद्य का यथेष्ट प्रचलन था" ।[28] परवर्ती समय में पियानो, गिटार, क्लैरोनेट आदि वाद्य भी प्रयोग होने लगे, परन्तु उनके संगीत-वाद्यों में व्हायोलिन ही भारतीय शास्त्रीय संगीत के लिए सबसे ज्यादा उपयुक्त सिद्ध हुआ । क्योंकि भारतीय संगीत की खास विशेषताओं को प्रकट करने में यही वाद्य दूसरे युरोपीय वाद्य से ज्यादा समर्थ प्रतीत हुआ ।

ये तो निश्चित है कि भारत में व्हायोलिन का आगमन पश्चिम के लोगों की बदौलत हुआ । "हिन्दुस्तान के साथ तिजारत करने के लिए पुर्तगीज़, डच, फ्रेंच, अंग्रेज़ व्यापारी इस

बीग फुट संग्रह शाला (गोवा) में बजाता हुआ पुरुष मूर्ति

देश में प्रविष्ट हुए । वे समुद्र के रास्ते से आए और उन्होंने दक्षिण भारत में अपने उपनिवेश बना लिए । उनके साथ यह व्हायोलिन वाद्य भारत में यत्र-तत्र प्रचार में आने लगा और खासकर इस वाद्य का प्रवेश दक्षिण हिन्दुस्तानी या कर्नाटक संगीत में सर्वप्रथम हुआ"।[29] इस विषय पर डॉ. एन. राजम् जी (भारत की विख्यात व्हायोलिन वादिका) का कहना यह है कि, "अंग्रेज़ी शासनकाल में यह वाद्य श्रीलंका होते हुए भारत पहुँचा । चुँकि श्रीलंका से भारत रास्तों से पहुँचा था । अतः सर्वप्रथम दक्षिण भारतीय कलाकारों ने इसे अपनाया । बाद में यह समस्त भारत में प्रचलित और लोकप्रिय हुआ"।[30]

2. व्हायोलिन वाद्य पर शास्त्रीय संगीत का सर्वप्रथम क्रियात्मक प्रयोग तथा विकास

यहाँ हम व्हायोलिन वाद्य पर भारतीय शास्त्रीय संगीत का सर्वप्रथम क्रियात्मक प्रयोग तथा विकास के विषय में खोज करते हुए उस वाद्य पर उत्तर भारतीय तथा हिन्दुस्तानी संगीत का क्रियात्मक प्रयोग तथा विकास के बारे में चर्चा करेंगे । प्रासंगिकता के अनुसार दक्षिण भारत की सामान्य चर्चा करना स्वाभाविक है ।

व्हायोलिन को भारतीय अभिजात संगीत की महफिलों में सर्वप्रथम स्थान प्रदान करने का श्रेय दक्षिण भारत के बालुस्वामी दीक्षितार (ई. 1786-1858) को दिया जाता है । पी. साम्बामूर्ति के अनुसार, "बालुस्वामी दीक्षितार महान रचनाकार मुत्थुस्वामी दीक्षितार के सबसे छोटे भाई थे" । "वे एक प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे । जब वे युवक थे तब अपने पिता जी के साथ मनाली (मद्रास के पास) में बहुत वर्षों तक रहें । मनाली के चिन्नाअयर मुदलियार ने बालुस्वामी दीक्षितार के लिए तीन वर्ष तक व्हायोलिन प्रशिक्षण की व्यवस्था कर दी और उन्होंने एक युरोपियन व्हायोलिन वादक से अपनी शिक्षा प्राप्त की और उसमें शीघ्र ही प्रावीण्य प्राप्त किया । दक्षिण भारतीय संगीत के इतिहास में बालुस्वामी दीक्षितार प्रथम व्यक्ति हुए, जिन्होंने व्हायोलिन वादन की योग्य प्रविधि को प्राप्त कर दक्षिण भारत के संगीत को सफलतापूर्वक प्रदर्शित किया"।[31] "दक्षिण भारत के मैसुर में श्री रंगपट्टनम स्थित दरिया दौलत (टीपु सुल्तान का महल) में एक चित्र सन् 1784 का बना हुआ प्राप्त होता है । इस चित्र में एक महिला नृत्य कर रही है तथा अन्य महिलाएँ वाद्यों को बजा रही हैं, जिसमें व्हायोलिन,

तानपुरा एवं ढोलक आदि वाद्य स्पष्ट अंकित है" ।[32] "यह चित्र सन् 1784 का है लेकिन बालुस्वामी दीक्षितार का जन्म सन् 1786 का है । अतः बालुस्वामी दीक्षितार को दक्षिण भारत के प्रथम बेला वादक का श्रेय देना उचित नहीं होगा । चित्र से स्पष्ट है कि, दक्षिण भारत में नृत्य की संगति में इसका प्रचलन 18वीं शताब्दी में प्रारम्भ हो चुका था । परन्तु इतना अवश्य मानना चाहिए कि दक्षिण भारतीय शास्त्रीय संगीत में बेला वाद्य का प्रारम्भ श्री बालुस्वामी दीक्षितार द्वारा किया गया है" ।[33]

"मुत्थुस्वामी के एक शिष्य वडिवेल, त्रावणकोर रियासत के दरबारी नौकर थे । उन्होंने भी इस वाद्य को आत्मसात कर लिया था । संयोगवश रियासत के महाराजा स्वयं एक संगीतकार थे । उन्होंने व्हायोलिन वाद्य को खुब बढ़ावा दिया । धीरे-धीरे इस वाद्य का प्रचलन इतना बढ़ गया कि आज तमाम दक्षिण भारत में संगीत की सभी महफिलों को इसने व्याप लिया है । आज दक्षिण भारत के संगीत का सभी प्रकारों को व्हायोलिन के साथ-संगत से प्रस्तुत किया जाता है" ।[34]

दक्षिण भारत की तुलना में उत्तर भारतीय संगीत में बेला वाद्य पर्याप्त विलम्ब से प्रचलित हुआ । दक्षिण भारत की अपेक्षा उत्तर भारत में इसके विलम्ब से प्रचलित होने का कारण यही समझ में आता है कि उत्तर भारत में सितार और सरोद जैसे एकांकी वादन के वाद्य तथा सारंगी जैसे संगति के सशक्त वाद्य प्रचलित थे ।

उत्तर भारत में दो प्रकार के व्हायोलिन वादक है । एक वे जो भारतीय शास्त्रीय संगीत को प्रस्तुत करते हैं, दूसरे जो फ़िल्म तथा सुगम-संगीत के वाद्यवृन्द में भाग लेते हैं ।

शास्त्रीय संगीत के व्हायोलिन वादकों के सम्बन्ध में श्री नारायण वी. पंडित लिखते हैं कि, पं. विष्णु दिगम्बर के निवेदन पर श्री पी. ए. सुन्दरम् अय्यर ई. 1911-1912 के लगभग गान्धर्व महाविद्यालय आए और उन्होंने श्री पाठक, श्री पटवर्धन व श्री धुण्डीराज पलुस्कर जी को व्हायोलिन वादन की शिक्षा दी । किन्तु श्री प्रकाश नारायण के अनुसार, "व्हायोलिन जैसे विदेशी वाद्य को सर्वप्रथम उत्तर हिन्दुस्तानी संगीत में प्रयोग करने और उसे लोकप्रिय बनाने के लिए दिवंगत होते हुए भी बंगाल प्रदेश के श्री गगन बाबू (ई. 1890-1949) अमर हो गए" ।[35]

यह भी जानकारी मिलती है कि, "श्री पी. सुन्दरम् अय्यर ने सन् 1916 के बड़ौदा संगीत सम्मेलन में व्हायोलिन पर उत्तर भारतीय संगीत को प्रस्तुत किया था" ।[36]

"ईडन गार्डन के बैण्ड मास्टर लोबो साहब के पास उ. अलाउद्दीन खाँ ने व्हायोलिन वादन की शिक्षा पायी और पश्चिमी संगीत सीखा था" ।[37]

"सन् 1911 में उ. अलाउद्दीन खाँ मुक्तागाछा में गए और वहाँ उ. अहमद अली खां के प्रभाव में आये । वहीं उ. अहमद अली खां से गण्डा बन्धवाया तथा सरोद की शिक्षा पूर्ण होने के बाद उ. अलाउद्दीन खाँ ने व्हायोलिन पर उसी शैली (सरोद की शैली) से वादन आरम्भ किया" ।[38] परन्तु वे व्हायोलिन को पश्चिमी संगीतकार जैसे पकड़कर उसी Tune में बजाते थे ।

"सन् 1924 या 25 के लखनऊ के अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन में लोगों के सामने अपने व्हायोलिन वादन के लिए वे मशहूर हुए थे । व्हायोलिन वादन का पहला इनाम इन्हीं को (उस्ताद अलाउद्दीन खाँ) मिला था। दूसरा इनाम फिरोज़पुर के बलवन्त सिंह हूगन को मिला था" ।[39]

उपरोक्त सन्दर्भों से स्पष्ट है कि उत्तर भारत में व्हायोलिन को शास्त्रीय संगीत में प्रतिष्ठित करने का कार्य श्री पी. सुन्दरम् अय्यर की सहायता से पं. विष्णु दिगम्बर ने सन् 1911-1912 से मुम्बई में प्रारम्भ किया । उत्तर भारत में श्री गगन बाबू ने सम्भवत: 20-25 वर्ष की आयु में व्हायोलिन वादन प्रारम्भ कर दिया होगा । इस दृष्टि से व्हायोलिन को भारतीय संगीत में लाने का प्रयास श्री गगन बाबू द्वारा ई. सन् 1920-25 के लगभग प्रारम्भ किया होगा । सन् 1924 में आयोजित लखनऊ संगीत सम्मेलन में उ. अलाउद्दीन खाँ ने व्हायोलिन वादन का कार्यक्रम प्रस्तुत किया था, जिसके उपलक्ष में उन्हें प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ था। व्हायोलिन वादन में दूसरा पुरस्कार फिरोज़पुर के बलवन्त सिंह हूगन को दिया गया था । इन तथ्यों पर विचार करने से 20वीं शताब्दी के प्रथम दशक से लेकर दूसरे-तीसरे दशक तक उत्तर भारतीय संगीत में व्हायोलिन को लाने का श्रेय श्री गगन बाबू, श्री पी. सुन्दरम् अय्यर तथा उ. अलाउद्दीन खाँ को है । श्री गगन बाबू के सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी प्राप्त न होने के कारण कुछ कहना सम्भव नहीं है, परन्तु जिन लोगों ने उनका वादन सुना है, उनके कथनानुसार वे व्हायोलिन पर गत् शैली से वादन करते थे ।

श्री पी. सुन्दरम् अय्यर से शिक्षा प्राप्त कर श्री धुण्डीराज पलुस्कर, श्री पटवर्धन एवं श्री पाठक ने व्हायोलिन वादन का प्रचार उत्तर भारत में किया । पं. ओंकारनाथ ठाकुर के छोटे भाई भी व्हायोलिन वादन करते थे । इनका व्हायोलिन वादन करते हुए एक चित्र उपलब्ध होता है । श्री बलवन्त सिंह हूगन के सम्बन्ध में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है, परन्तु 1924 के संगीत सम्मेलन में व्हायोलिन वादन में दूसरा पुरस्कार प्राप्त करनेवाले व्यक्ति की योग्यता पर सन्देह नहीं किया जा सकता । लखनऊ के संगीत सम्मेलन में सम्पूर्ण भारत से श्रेष्ठ गायक-वादक एकत्रित हुए थे । ऐसे विद्वानों की सभा में वादन प्रस्तुत करने की अनुमति प्राप्त करना ही योग्यता का प्रथम प्रमाण-पत्र हो जाता है । इस घटना से यह कहना उचित प्रतीत होता है कि श्री बलवन्त सिंह हूगन ने भी व्हायोलिन को उत्तर भारतीय संगीत में प्रतिष्ठित करने का सुकार्य किया था । उस्ताद अलाउद्दीन खाँ ने जो कई वाद्यों के वादन में कुशल थे तथा तत्कालीन मूर्धन्य उस्तादों से संगीत की शिक्षा प्राप्त कर चुके थे, अपनी योग्यता का प्रयोग कर व्हायोलिन को उत्तर भारतीय संगीत में स्थापित करने का पूरा प्रयत्न किया और कई शिष्यों को व्हायोलिन वादन के क्षेत्र में मार्गदर्शन दिया, जिनके द्वारा उनके पश्चात् व्हायोलिन वाद्य उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत में प्रतिष्ठित हुआ ।

पं. विष्णु दिगम्बर ने अपने 'गान्धर्व महाविद्यालय' में पी. सुन्दरम् अय्यर को व्हायोलिन सीखाने के लिए अध्यापक के नाते सम्मिलित करने के फलस्वरूप 'गान्धर्व महाविद्यालय' के भारतभर की बहुत-सी शाखाओं में व्हायोलिन की शिक्षा दी जाने लगी । इस प्रकार व्हायोलिन को उत्तर हिन्दुस्तानी संगीत में प्रतिष्ठापित करने में पं. श्रीकृष्ण रातंजनकर और पं. गजाननबुवा जोशी का योगदान भी कम नहीं है । डॉ. श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकर लखनऊ में 'मैरिस कॉलेज ॲव़ म्युजिक' (आज 'भातखण्डे महाविद्यालय') के प्राचार्य थे । उन्होंने सन् 1932-1934 के काल में मुम्बई से जाने-माने व्हायोलिन-कलाकार स्व. पं. वी. जी. जोग को बुला लिया और वहाँ पर इस वाद्य के विधिवत् प्रशिक्षण का इन्तजाम कर दिया। पं. गजाननबुवा जोशी का जो कि विष्णु दिगम्बर के गुरूबन्धु पं. अनन्त मनोहर जोशी के सुपुत्र रहे, व्हायोलिन वाद्य से वाकिफ़ रहना स्वाभाविक ही था । किन्तु जब उन जैसे महान कलाकार ने इस वाद्य पर अधिकार पाने के निश्चय से उसे उठा लिया तब उसमें गायकी को प्रस्तुत करने की दृष्टि से इस कदर संजोया कि अल्पावधि में इस वाद्य को स्वतन्त्र वादन की दृष्टि से महत्त्व प्राप्त हो गया । इन्हीं के समानान्तर पं. वी. जी. जोग ने भी व्हायोलिन वाद्य को

उभारने में अपना योगदान दिया । अब आज डॉ. श्रीमती एन्. राजम्, पं. एम. एस् गोपालकृष्णन्, लालगुडी जयरामन्, पं. डी. के. दातार, श्रीमती शिशिरकणा धर चौधुरी, प्रो. वसन्त रानाड़े, प्रो. रॉबीन घोष, प्रो. रामप्रसाद शास्त्री, श्रीमती कलारामनाथन्, श्रीमती संगीता शंकर आदि प्रसिद्ध व्हायोलिन वादक वादिकाओं ने इस वाद्य के वादन-क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहे है । इस विषय पर और कुछ नाम लेना आवश्यक है, जैसे - जोई श्रीवास्तव, पं. विघ्नेश्वर शास्त्री, श्रीमान श्रीधर पार्सेकर, डॉ. जी. एन. गोस्वामी, पं. के. आर. सुरंगे आदि । इन्होंने भी अपना-अपना योगदान देकर व्हायोलिन को प्रतिष्ठापित करने का सुकार्य किया था । इन कलाकारों के द्वारा व्हायोलिन का केवल प्रचार ही नहीं हुआ, बल्कि इसकी वादन तकनीक भी अत्यन्त समृद्ध हुई । इन सभी कलाकारों की बदौलत आज व्हायोलिन जैसे पश्चिमी वाद्य के माध्यम से हिन्दुस्तानी राग-संगीत का वादन संसार के अन्य देशों में भी सुनाया जाने लगा है ।

केवल अभिजात राग-संगीत के क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि उससे भी ज्यादा पैमाने पर भारत में व्हायोलिन वाद्य का प्रयोग जैसे - भारतीय चित्रपट, सुगम-संगीत का माहौल, वृन्दवादन इत्यादि संगीत के जनरूचि सम्पन्न प्रकारों में भी अरसे से होता आ रहा है । यहाँ कहना उचित होगा कि बंगाल प्रदेश के प्राचीन शास्त्रीय गीत कीर्तन के साथ एवं लोक-संगीत में खास कर बाउल सम्प्रदाय के गीतों के साथ व्हायोलिन वाद्य का सफल प्रयोग देखने को मिलता है । यह प्रयोग कब प्रारम्भ हुआ था इस विषय पर कोई प्रामाणिक तथ्य प्राप्त नहीं होता है, परन्तु कीर्तन संगीत की तथा बाउल-संगीत की कलाकारों से यह जानकारी मिलती है कि पहले कीर्तन में बाकी वाद्यों के साथ गज़ वाद्य की हिसाब से सारिन्दा का प्रयोग होता था और एकतारा बाउल गायकों का बहुत ही प्रिय वाद्य था एवं आज भी है, जिसको बंगाल के लोक-संगीत का प्राण वाद्य कहें, तो अनुचित नहीं होगा, परन्तु जब से उत्तर भारत में व्हायोलिन का प्रयोग दिखाई देने लगा तो इन कलाकारों ने भी इस वाद्य को अपने-अपने संगीतों में संगति वाद्य के नाते प्रयोग करने लगे । इसके अतिरिक्त लोक-संगीत की अनेक शैलियों के साथ भी आज बंगाल प्रदेश में व्हायोलिन वाद्य का प्रयोग हो रहा है ।

अब निर्विवाद रूप से यह मान्य किया जा सकता है कि वर्तमान व्हायोलिन पाश्चात्य देशों की देन है । भारत में इसका प्रथम प्रयोग किसने किया और कहाँ किया यह कहना

विवादग्रस्त हो सकता है, किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में इसका प्रचलन लगभग दो शताब्दी पूर्व ही हो गया था। और बंगाल के बारे में तो यह कहा जाता है कि - "What Bengal thinks today, India Thinks tomorrow" इस बात को स्पष्ट करते हुए यहाँ कुछ जानकारी दी जा सकती है कि, "सन् 1804 में जब रामनिधि गुप्त ने आखड़ाई गीत शैली का प्रवर्तन किया था तब व्हायोलिन का विशेष प्रयोग था।[40] इस तथ्य से ज्ञान होता है कि 18वीं सदी के उत्तरार्ध से बंगाल में व्हायोलिन का प्रयोग आरम्भ हो चुका था और एक प्रचलित वाद्य के रूप में इसका प्रयोग होता था । उसके बाद जोड़ासाँको ठाकुर परिवार से रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बड़े भाई "ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर भी अपने कॉनसॅर्ट में देशी वाद्यों के साथ विदेशी वाद्यों, जैसे व्हायोलिन, चेलो, पियानो, क्लैरोनेट आदि का प्रयोग करते थे"।[41] ठाकुर परिवार में देशी वाद्यों के विदेशी वाद्य का भी अभ्यास होता था।

जेमस टेलर साहब रचित "टपोग्राफी ऑव़ ढाका" नामक ग्रन्थ के बांग्ला अनुदित ग्रन्थ 'कम्पनी आमोले ढाका' में उल्लेख है कि, "हिन्दूओं का उपयोगी बेहाला अधिक प्रचलित है। इस वाद्य ने देश के इस भाग में अधिक लोकप्रियता प्राप्त की है। बेहाला निर्माण के लिए शहर में कुछ निर्माणागार है । हर साल व्हायोलिन निर्माण की संख्या में वृद्धि से प्रतीत होता है कि यहाँ एवं निकट के इलाकों मे इस वाद्य का अधिक प्रचार है। खास करके गोसाँई तथा बैरागी (बाउल) सम्प्रदाय के लोग इस वाद्य के मुख्य वादक हैं"।[42] इस तथ्य से प्रतीत होता है कि व्हायोलिन में शास्त्रीय वादन प्रारम्भ होने के पहले भी यह वाद्य बंगाल में अधिक प्रचलित और लोकप्रिय रहा, परन्तु इसके शास्त्रीय तथा क्रियात्मक प्रयोग में उस काल की कोई ठोस जानकारी प्राप्त नहीं होती है।

दक्षिण भारत के कलाकारों ने प्रारम्भ से ही व्हायोलिन की पाश्चात्य पद्धति को अस्वीकार कर दिया । उन्होंने व्हायोलिन को भारतीय संगीत की विशेषता के अनुरूप मीण्ड, गमक आदि का योग्य प्रयोग कर सुन्दर रूप में श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत किया। यही कारण है व्हायोलिन को वहाँ केवल एकल वादन के रूप में ही नहीं, बल्कि संगति वाद्य के रूप में भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उत्तर भारत में यह 20वीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में ही प्रचलित हुआ है। इस विलम्ब का कारण यह है कि उत्तर भारत में एकल वादन तथा संगति

के लिए अनेक सशक्त वाद्यों का प्रचलन था। जैसे - सितार, सरोद, सारंगी, इसराज आदि, परन्तु समाप्ति में हम इतना तो निश्चित कह सकते हैं कि उत्तर भारतीय संगीत में जब से व्हायोलिन वाद्य का प्रयोग आरम्भ हुआ तब से लेकर आज तक इसकी लोकप्रियता काफी दिखाई देती हैं। शास्त्रीय पक्ष की कलाकार इसमें गत् शैली के साथ गायकी शैली को भी उत्कृष्ट ढंग से प्रस्तुत करते हैं । संगीत की अन्य पक्षों में भी इस वाद्य का व्यवहार अधिक है।

सन्दर्भ-सूत्र

1.	भारतीय संगीत का इतिहास - उमेश जोशी	पृष्ठ 2
2.	भारतीय संगीत शास्त्रों में वाद्यों का चिन्तन - डॉ. अंजना भार्गव	पृष्ठ 3
3.	भारतीय संगीत का इतिहास - ठाकुर जयदेव सिंह	पृष्ठ 13
4.	भारतीय संगीत शास्त्रों में वाद्यों का चिन्तन - डॉ. अंजना भार्गव	पृष्ठ 2
5.	- वही -	पृष्ठ 2
6.	भारतीय संगीतेर इतिहास - स्वामी प्रज्ञानानन्द	पृष्ठ 1
7.	- वही -	पृष्ठ 1
8.	- वही -	पृष्ठ 2
9.	भारतीय संगीतेर कथा - प्रभात कुमार गोस्वामी	पृष्ठ 16
10.	- वही -	पृष्ठ 15
11.	निबन्ध संगीत - लक्ष्मीनारायण गर्ग	पृष्ठ 184
12.	भारतीय संगीतेर कथा - प्रभात कुमार गोस्वामी	पृष्ठ 16
13.	- वही -	पृष्ठ 22
14.	- वही -	पृष्ठ 22
15.	निबन्ध संगीत - लक्ष्मीनारायण गर्ग	पृष्ठ 187
16.	भारतीय संगीतेर कथा - प्रभात कुमार गोस्वामी	पृष्ठ 23
17.	भारतीय संगीत का इतिहास - उमेश जोशी	पृष्ठ 116
18.	- वही -	पृष्ठ 135
19.	भारतीय संगीत का इतिहास - शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे	पृष्ठ 191
20.	- वही -	पृष्ठ 185
21.	- वही -	पृष्ठ 171
22.	प्राचीन भारत में संगीत - डॉ. धर्मावती श्रीवास्तव	पृष्ठ 125
23.	भारतीय संगीत (प्रथम भाग) - राम अवतार वीर	पृष्ठ 257
24.	निबन्ध संगीत - लक्ष्मीनारायण गर्ग	पृष्ठ 188
25.	- वही -	पृष्ठ 188
26.	- वही -	पृष्ठ 188
27.	- वही -	पृष्ठ 189
28.	तथ्य संग्रह : BIG FOOT, GOA	
29.	मुक्त-संगीत-संवाद, सम्पादक : श्रीरंग संगोराम	पृष्ठ 120

30. अन्तर्नाद : सुर और साज - पं. विजय शंकर मिश्र — पृष्ठ 128
31. भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य - डॉ. प्रकाश महाडिक — पृष्ठ 143
32. - वही - — पृष्ठ 143
33. - वही - — पृष्ठ 143
34. मुक्त संगीत संवाद - सम्पादक : डॉ. श्रीरंग संगोराम — पृष्ठ 120
35. व्हायोलिन वादन - श्री प्रकाश नारायण — पृष्ठ 116
36. हमारे संगीत रत्न - संपादक : लक्ष्मी नारायण गर्ग — पृष्ठ 492
37. उ. अलाउद्दीन खाँ स्मृति अंक - श्री मदनलाल व्यास — पृष्ठ 38
38. - वही - — पृष्ठ 42
39. हिन्दुस्थानी संगीत के रत्न - डॉ. सुशील कुमार चौबे — पृष्ठ 32
40. प्रसंग बांग्ला गान - श्री राज्येश्वर मित्र — पृष्ठ 81
41. - वही - — पृष्ठ 80
42. कम्पनी आमोले ढाका - जे. टेलर — पृष्ठ 213